

## विषय-प्रवेश

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में भक्ति आंदोलन एक ऐसी घटना थी जिसने पहली बार ईश्वर और मनुष्य के संबंध के द्वारा धर्म को अनुभव और मूल्य-चेतना का सर्वथा नया मानवीय धरातल प्रदान किया। ऐसे समय और समाज में जहां परमार्थ संप्रदाय में, नैतिकता पक्षपात में, राजनीति निरंकुशता और संस्कृति अलगाव में निरंतर स्तरीकृत हो रही थी भक्त कवियों ने भक्ति को न केवल शास्त्र की जकड़बंदी से मुक्त किया अपितु उसे जनमानस में स्थापित करने का भी ऐतिहासिक कार्य किया। हालांकि कुछ विद्वान भक्ति आंदोलन को एक धार्मिक या सांस्कृतिक आंदोलन मानते हैं तो कुछ विद्वान शुद्धतः साहित्यिक आंदोलन। इन आलोचकों की वैचारिकी के चाहे जो भी आधार रहें हों लेकिन भक्तिकालीन साहित्य के तटस्थ विश्लेषण से यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि यह वास्तव में सामंती संस्कृति एवं वर्चस्व के विरुद्ध जनसंस्कृति के उत्थान एवं हस्तक्षेप का अखिल भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन है। इसलिए भक्त कवियों की दृष्टि में "मानुष सत्य के ऊपर कुछ भी नहीं है—न कुल, न जाति, न धर्म, न संप्रदाय, न स्त्री-पुरुष का भेद, न किसी शास्त्र का भय और न लोक का भ्रमा"।<sup>1</sup> भारतीय चिंतन परंपरा में के. दामोदरन भी लिखते हैं— "भक्ति आंदोलन का मूल आधार भगवान विष्णु अथवा उनके अवतारों राम और कृष्ण की भक्ति थी... यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य फिर वे ऊंची जाति के हों अथवा नीची जाति के—समान हैं, इस आंदोलन का ऐसा केंद्र बिन्दु बन गया जिसने पुरोहित वर्ग और जाति-प्रथा के आतंक के विरुद्ध संघर्ष करने वाले आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों ओर एकजुट किया। इस प्रकार मध्ययुग के इस महान आंदोलन ने न केवल विभिन्न भाषाओं और विभिन्न धर्मों वाले जनसमुदायों की एक सुसंबद्ध भारतीय संस्कृति के विकास में मदद की, बल्कि सामंती दमन और उत्पीड़न के विरुद्ध संयुक्त संघर्ष चलाने का भी मार्ग प्रशस्त किया।"<sup>2</sup>

हिन्दी के सर्वाधिक क्रांतिदर्शी और फक्कड़ कवि, निर्गुण ब्रह्म के महान उद्धोषक, कर्मकांड एवं अंधविश्वासों के विरोधी, प्रखर समाजसुधारक कबीर भक्तिकाल के श्रेष्ठ कवियों में अग्रगण्य हैं। वे न केवल युग प्रवर्तक रचनाकार हैं अपितु पूरे उत्तर भारत में भक्ति को प्रकट करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है—

“भक्ति द्राविड़ उपजी, लाए रामानन्दा  
प्रकट करि कबीर ने, सप्त दीप नवखंडा।”

कबीर का समय मध्यकालीन इतिहास का वह समय था जब सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अराजकता अपने चरम बिन्दु पर पहुँच चुकी थी। श्यामसुंदर दास लिखते हैं—“मंदिरों को गिराकर उसके स्थान पर मस्जिदें बनाने का लग्गा तो बहुत पहले ही लग चुका था, अब स्त्रियों के मान और पतिव्रता की रक्षा करना भी कठिन हो गया था... मुहम्मद तुगलक (1382-1408) की ऊटपटांग व्यवस्थाओं से समस्त राजधानी जिसमें नवजात शिशु से लेकर मरणोन्मुख वृद्ध तक थे दिल्ली से लाकर दौलताबाद में बसाई गईं। परंतु जब वहाँ आने से अधिक लोग मर गए तब सब को फिर दिल्ली लौट जाने की आज्ञा दी गई... चारों ओर निराशा और निरवलंबता का अंधकार छाया हुआ था।”<sup>3</sup> तत्कालीन समाज में आचार-विचार, भाषा, संस्कृति, धर्म, इत्यादिको लेकर भी खाई बढ़ती जा रही थी। कबीर का आध्यात्मिक परिवेश जहां व्यक्ति एवं समाज के उन्नयन से विमुख होकर सांप्रदायिकता को बढ़ावा दे रहा था वहीं राजनीति सत्ता लोलुपता, ऐश्वर्य-विलास और वैमनस्य का पर्याय बन चुकी थी। इसलिए कबीर लोक और शास्त्र के विवाद में लोक के साथ खड़े दिखाई देते हैं और विद्रोह का मार्ग अख्तियार करते हैं। उनका विद्रोह मूल्य विहीन नहीं अपितु संघर्ष से साक्षात्कार का है जिसमें मानवीय अनुभूति की सहजता और प्रतिबद्धता को व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया गया है। गोविंद त्रिगुनायत ने सही ही लिखा है— “सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध कबीर का काव्य एक तीखा अस्त्र है... उन्होंने देश, धर्म, समाज, दर्शन साधना समस्त क्षेत्र में क्रांति की जो धारा बहाई थी उससे निश्चय ही उस क्षेत्र के कालुष्य बह गए थे।”<sup>4</sup>

मध्यकालीन संत कवियों में कबीर की विशिष्टता इस बात में है कि उनकी वाणी आज के युग संदर्भ में भी उतनी ही सार्थक और उपयोगी है जितनी मध्यकाल में थी। लेकिन यह भी कितनी अजीब बात है कि वे —“मध्यकालीन होते हुए भी आधुनिक से लगते हैं, निरक्षर होते हुए भी ज्ञानी जी कहे जाते हैं, मुसलमान वंश में जन्म होने पर भी रामानन्द के शिष्य”<sup>5</sup> बनते हैं। किसी को उनकी साखियाँ सांप्रदायिक शिक्षा देने एवं लोक सम्बन्धों की अनुभूति से रहित होने के कारण काव्य का विषय ही नहीं प्रतीत होता है (रामचंद्रशुक्ल) तो कोई उन्हें 'इंडियन लूथर' (हंटर) कहता है। किसी को कबीर की कविता और समाजसुधार जैसी भावना बाई-प्रॉडक्ट (हजारीप्रसादद्विवेदी) लगती है तो किसी को उनका समय मध्यकाल नहीं देशज आधुनिकता का एवं उनकी कविता उतनी ही उच्च कोटि की लगती है जितनी की उनकी साधना (पुरुषोत्तम अग्रवाल)। इसलिए कबीर का विश्लेषण भक्तिकालीन साहित्य एवं इतिहास के साथ-साथ पूरे भारतीय इतिहास के अध्ययन की समस्याओं से भी जुड़ जाता है। तभी तो हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन सही और सार्थक लगता है—“हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व कोई उत्पन्न नहीं हुआ।...मस्ती, फकड़ाना और सब कुछ को झाड़ फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्तित्व बना दिया।”<sup>6</sup>

साथ ही यह भी जानने का प्रयास किया जाएगा की क्यों सैकड़ों वर्ष बीत जाने के बाद भी कबीर आज भी उतने ही प्रासांगिक हैं

<sup>1</sup> मैनेजर पांडेय — भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, पृ. - दूसरे संस्करण की भूमिका

<sup>2</sup> के. दामोदरन — भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. 327

<sup>3</sup> श्यामसुंदर दास — कबीर ग्रंथावली, पृ. 13

<sup>4</sup> गोविंद त्रिगुनायत — कबीर की विचारधारा पृ. 207

<sup>5</sup> पुरुषोत्तम अग्रवाल — अकथ कहानी प्रेम की, पृ. 7

<sup>6</sup> हजारी प्रसाद द्विवेदी — कबीर, पृ. 170

जितने वे अपने समय में थे? एक निश्चित संवैधानिक व्यवस्था बहाल हो जाने के बाद भी क्यों समाज में जाति और धर्म के आडंबर की समस्या जस की तस बनी हुई है?

कबीर भारतीय परंपरा के न केवल सर्वमहत्वपूर्ण रचनाकार हैं अपितु वे साहित्य के इतिहास के सबसे बड़े किंवदंती भी हैं। उनके जीवन, मृत्यु, जाति, माता-पिता, यहाँ तक की गुरु जैसी बातों को लेकर भी इतनी कथाएँ प्रचलित हैं जितनी शायद ही किसी दूसरे रचनाकार के बारे में हो।

### कबीर की भक्ति-भावना

भक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख 'श्वेताश्वर' उपनिषद में मिलता है। भक्ति-मार्ग का प्रमुख संप्रदाय भागवत धर्म है जिसका उदय ईसा के लगभग 1400 वर्ष पूर्व माना जाता है। भागवत धर्म संप्रदाय के प्रधान उपास्य देव वासुदेव हैं जिन्हें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य, और तेज इन छह गुणों से सम्पन्न होने के कारण भगवान या भगवत कहा गया है। आज जिसे हम वैष्णव धर्म या वैष्णव-संप्रदाय के नाम से जानते हैं उसका ही प्राचीन नाम भागवत धर्म या पांचरात्र मत है। अपने आरंभिक काल से लेकर आज के इस वैज्ञानिक युग में जहाँ धर्म और भक्ति को नितांत 'व्यक्तिगत आस्था' का विषय मान लिया गया है, अलग-अलग विद्वानों और चिंतकों ने इसे अपने-अपने ढंग से समझने और समझाने का प्रयास किया है। पूजा आदि में प्रगाढ़ प्रेम (पूजादिष्वापुराण इति पाराशर्य -व्यास) ईश्वर के गुण-कीर्तन के प्रति अनन्य प्रेम (कथादिष्विति गर्गः- गर्ग मुनि) से लेकर वर्ण, वर्ग, संप्रदाय तथा धर्मगत बंधनों से इतर एक समतामूलक मानवतावादी चेतना तक के संदर्भ में भक्ति की कई व्याख्याएँ मौजूद हैं। भक्ति मूल रूप से ईश्वर और मनुष्य के बीच रागात्मक संबंध की चेतना का नाम है। मन के भीतर निहित पूजा या श्रद्धा भाव जब किसी अलौकिक या परम शक्ति के प्रति उदय होकर भावनात्मक रूप में अभिव्यक्त किया जाता है तब वह भक्ति कहलाता है। मध्ययुग के लगभग सभी आचार्यों ने भक्ति को मुक्ति का सबसे सरल और सुगम उपाय माना है। नारद सूत्र में भक्ति की कि गई व्याख्या के अनुसार-"सा परानुरक्ति ईश्वरे भक्ति।" <sup>7</sup> अर्थात् ईश्वर में अनन्य अनुराग ही भक्ति है फिर ईश्वर चाहे सगुण हो या निर्गुण। तुलसीदास ने भी ईश्वर से वरदान मांगते हुए कहा है- "देहुं भगति तिहुं पाप नसावनि।"

भारतीय परंपरा में धर्म के भीतर ईश्वर या अलौकिक सत्ता के साथ मनुष्य के संबंध स्थापित करने की चार प्रमुख पद्धतियाँ प्रचलित रहीं हैं— ज्ञान, योग, कर्म और भक्ति। इसमें ज्ञान अत्यंत सूक्ष्म, जटिल और इसी कारण नीरस एवं शुष्क माना जाता है जब कि योग शारीरिक-साधना पर आधारित होता है। कर्म का अर्थ बाह्य विधि-विधान, आडंबर, देशाटन एवं तीर्थाटन में सीमित कर दिया गया है। इसमें सबसे अलग भक्ति धर्म का वह रसात्मक, लोक ग्राह्य एवं मानवीय रूप है जो बुद्धि, शरीर और क्रियायों पर निर्भर न होकर 'मनुष्य की भावनाओं' <sup>8</sup> पर आधारित होता है। यही कारण है कि लोक जीवन में जब धर्म ने आंदोलन का रूप लिया तो उसका माध्यम भक्ति बनी न कि ज्ञान, योग या कर्म। मध्यकालीन समाज में यह भक्ति न केवल विश्वास और साधना-पद्धतियों के यथास्थितिवाद को तोड़ती है अपितु मानवीय एकता और सामाजिक समता को सबसे सशक्त माध्यम के रूप में भी स्वीकार करती है। शायद इसीलिए दार्शनिक स्तर पर मतभेद होते हुए भी भक्ति के स्तर पर सगुण और निर्गुण में कोई अंतर नहीं है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्ययुग के संतों का सामान्य विश्वास पर विचार करते हुए 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है- "सबसे पहली बात जो इस सम्पूर्ण साहित्य के मूल में है, यह है कि भक्त का भगवान के साथ एक व्यक्तिगत संबंध है। भगवान या ईश्वर इन भक्तों की दृष्टि में कोई शक्ति या सत्ता मात्र नहीं है बल्कि एक सर्व शक्तिमान व्यक्ति है, जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है। निर्गुण मत के भगवान हो या सगुण मत के, भगवान के साथ उन्होंने कोई-न-कोई अपना संबंध पाया है।"<sup>9</sup>

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन ने जिन कालजयी रचनाकारों को उत्पन्न किया उनमें स्वभाव से विद्रोही एवं 'आखिन देखी' के धरातल पर अध्यात्म, जीवन और भक्ति का एकात्म स्थापित करने वाले कबीर निर्गुण संत कवियों में अग्रगण्य हैं। संतकाव्य की परंपरा का भारतीय धर्म-साधना में अपना एक विकास क्रम है। भारतीय धर्म-साधना में जैसा कि हम सभी जानते हैं और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो अपने पुस्तको (विशेष तौर पर देखें 'कबीर' और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रंथ) में साफ स्पष्ट किया है कि नाथ पंथ का उदय बौद्ध धर्म तथा तंत्रवाद के विरोध में हुआ है। इसमें योग साधना के साथ शैव धर्म की विशेषता प्रकट हुई थी, भक्ति की नहीं। नाथ पंथ से आगे की परंपरा संत परंपरा है जिसमें योग साधना को गौण और भक्ति भावना को प्रधान रूप से महत्त्व मिला है। इस प्रकार संत काव्य परंपरा का विकास भक्ति-भावना से सीधे जुड़ता है। कबीर इसी संत परंपरा के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने संत-परंपरानुसार ही भक्ति को उसके सामाजिक और मानवीय भूमिका में स्वीकार किया है। भक्ति उनके लिए संसार को सार्थकता देने वाली चेतना है। तभी तो जो कबीर सामाजिक-विषमता और दार्शनिक सत्यों के उदघाटन में आक्रामक और क्रांतिकारी दिखते हैं वही भक्ति साधना में इतने दैन्य हो जाते हैं जितने सूरदास और तुलसीदास भी नहीं। उदाहरण देखें-

"कबीर कुत्ता राम का, मुतिया मेरा नाऊं।

<sup>7</sup>साभार, पी. जयरामन — भक्ति के आयाम, पृ. 388

<sup>8</sup>देखें — विश्वनाथ त्रिपाठी — हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 12 ( भक्ति आंदोलन की विशेषता यह बताई गई है कि इसमें धर्म साधना का नहीं भावना का विषय बन गया )

<sup>9</sup> हजारी प्रसाद द्विवेदी — हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 85

**क्या आप जानते हैं?**

गीता में विविध साधना- पद्धतियों में शरणागति भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है — "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणम् ब्रजा"

परंपरा में यह विख्यात है कि कबीर को भक्तिमार्ग की प्राप्ति काशी के प्रसिद्ध महात्मा रामानन्द से मिली थी। रामानन्द घोषित तौर पर सगुण साकार ईश्वर के उपासक थे। उन्होने ही विष्णु के अवतार 'राम' नाम का गुरु-मंत्र कबीर को दिया था ताकि वैष्णव परंपरानुसार कबीर सगुण भक्ति के मार्ग पर चल सकें। लेकिन हम जानते हैं कि कबीर ने आलंबन रूप में 'सगुण राम' के बदले 'निर्गुण राम' को अपनाकर उसे अलख, निरंजन, ब्रह्म, हरि, खलिक, परब्रह्म जैसे कई नाम से संबोधित किया है। वस्तुतः कबीर जिस रूप में ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं उसे उसी रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं। इस क्रम में वे न केवल निर्गुण राम का समर्थन ('निर्गुण रामजपहुं रे भाई/ अविगत की गति लिख न जाई') करते हैं अपितु सगुण राम का खंडन ('दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना/ राम नाम का मरम है आना') भी करते हैं।

कबीर का समय धर्म-साधना के क्षेत्र में योग और भक्ति के चरम संघर्ष का समय था। बकौल हजारी प्रसाद द्विवेदी "संयोग से वे ऐसे युग-संधि के समय उत्पन्न हुए थे, जिसे हम विविध धर्म-साधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं।<sup>10</sup> विविध धर्म-साधनाओं और मनोभावनाओं के इस चौराहे पर एक ओर जहां नाथपंथी योग-पद्धति का समर्थन कर रहे थे वहीं दूसरी ओर दक्षिण से आई भक्ति-परंपरा के समर्थक प्रेम एवं भक्ति को काम्य मान रहे थे। दोनों मार्गों में बड़ा भारी अंतर था। भक्ति में जहां भावना पर बल, दैन्य एवं विनय की जरूरत और सहृदयता का अतिरिक्त दिखता था वहीं योग में साधना पर बल, प्रचंड आत्मविश्वास की जरूरत एवं अकखड़ता कूट-कूट कर भरी हुई थी। भक्त योग-मार्ग को कठोर और निरर्थक समझते थे तो योगी लोग प्रेम या भक्ति को दुर्बलता का प्रतीक मानकर उसका उपहास उड़ाया करते थे। उसी युग में 'शास्त्र और लोक' का जो द्वंद्व था उस सब से भी हम लोग भली-भांति परिचित हैं। ऐसे समय में कबीर की भक्ति ने भारतीय जनमानस को भक्ति के शास्त्रवाद से मुक्त कर उससमय अवलम्ब प्रदान किया जब वह एक ओर सिद्धों और नाथों की गुह्य साधना से ऊब रही थी तो दूसरी ओर विदेशी आक्रमणकारियों से त्रस्ता इसलिए यह अकारण नहीं है की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को पौरुष से हताश जातियाँ ही भगवद भजन के शरण में जाने को मजबूर दिखाई दिया। श्याम सुंदर दास ने भी लिखा है- "मुसलमानों के भारत में आ बसने से परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। हिन्दू जनता का नैराश्य दूर करने के लिए भक्ति का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने हिन्दू और मुसलमान भक्तसंतों की परंपरा विरोधी जातियों को एक करने की आवश्यकता का भी अनुभव किया। इस अनुभव के मूल में एक जैसे सामान्य भक्तिमार्ग का विकास गर्भित था जिस से परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन हो सकता था और जिसका मूलाधार भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद के सूक्ष्म भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया और दोनों के एक विचित्र मिश्रण के रूप में निर्गुण भक्ति मार्ग चल पड़ा।"<sup>11</sup> स्पष्ट है कि परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन ही निर्गुण कवियों का ध्येय था। इसलिए यह भी अकारण नहीं है कि कबीर की भक्ति-भावना दर्शन के धरातल पर भारतीय वेदान्त के अद्वैतवाद, साधनात्मक स्तर पर नाथपंथ, संस्कार और क्रियाशीलता के वैष्णवी स्वरूप और सूफी प्रेम तत्त्व की आनुभूतिक गहराई के मिश्रण से निर्मित हुई है।

कबीर की भक्ति- भावना की मूल प्रकृति को लेकर हिंदी आलोचना में काफी विवाद रहा है, खासकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों पर ध्यान देने की जरूरत है। विद्वानों ने हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा स्थापित मान्यता (कबीर मूलतः भक्त थे) को रामचंद्र शुक्ल द्वारा निर्गुण पंथ की दी गई परिभाषा ( यह सामान्य भक्ति-मार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित रूप लेकर खड़ा हुआ था, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था तो कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर<sup>12</sup>) को एक दूसरे के विरोध में खड़ा करने की कोशिश की है। कई बार तो कबीर की भक्ति को विदेशी या आयातित तक सिद्ध करने के प्रयास भी दिखाई देते हैं। परंतु बुनियादी तौर पर दोनों में अंतर नहीं है, दोनों एक दूसरे का पूरक है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार- "कबीर मूलतः भक्त थे। कविता और समाजसुधार जैसी अन्य भावना बाई-प्रॉडक्ट है।... भक्ति-तत्त्व की व्याख्या करते-करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन तत्त्व की प्राप्ति में बाधक है। यह बात ही समाजसुधार और सांप्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गई।"<sup>13</sup> आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार कबीर की भक्ति का लक्ष्य "एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहूदेवोपासना, अवतार और मूर्ति-पूजा का खंडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुर्बानी, हिंसा, नमाज, रोजा आदि की असरता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहद नाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिन्दू ब्रह्म - ज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह की ईश्वर पूजा की उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर जिनके कारण धर्म में भेद भाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।"<sup>14</sup> दोनों परिभाषाओं को ध्यान में रखकर कबीर की भक्ति की प्रकृति को हम समझने की कोशिश करें तो हमें यह सहज ही ज्ञात हो जाएगा कि कबीर की भक्ति दोनों संप्रदायों (हिन्दू और मुसलमान) के बीच भेदभाव की खाई को पाटने की एक कोशिश है। वहाँ कर्मकांड विरोधी चेतना का बहिष्कार, शुद्ध ईश्वरीय-प्रेम, सात्विक जीवन का प्रचार-प्रसार एवं आचरण की सात्विकता पर बल है। इसलिए कबीर की भक्ति मानवीय एकता का प्रतिपादन करती है, न कि कर्मकांड एवं बाह्यचारों

<sup>10</sup> हजारी प्रसाद द्विवेदी — हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास, पृ. 75

<sup>11</sup> श्यामसुंदर दास ( संपादक ) — कबीर ग्रंथावली, पृ. 15

<sup>12</sup> रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 36

<sup>13</sup> हजारी प्रसाद द्विवेदी- कबीर, पृ. 174

<sup>14</sup> रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 39

का अंधानुसरण। वर्ण, वर्ग, धर्म, जाति तथा संप्रदाय से पड़े सच्ची इंसानियत के मुरीद होने के कारण ही शिव कुमार मिश्र ने भी कबीर को 'सांस्कृतिक नवजागरण' का अग्रदूत मानते हुए उनकी भक्ति को अपने ग्रंथ 'भक्ति-आंदोलन और भक्तिकाव्य' में वैष्णव या योग के प्रभाव से अधिक 'ठेठ जीवन के बीच से रास्ता बनाने' और केवल 'राम के मर्म को पहचानने पर बल' देने के कारण विश्लेषण योग्य पाया। वे लिखते हैं- "समझौते का रास्ता छोड़कर विद्रोह का रास्ता अपनाते हुए निर्गुण भक्ति की जो धारा भक्ति-आंदोलन की स्रोतस्विनी से फूटी, कबीर उसकी सबसे ऊँची लहर के साथ सामने आए। समझौता उनकी प्रकृति में नहीं था। विद्रोह और क्रान्ति की ज्वाला उनकी रग-रग में व्याप्त थी। सिर पर कफन बांधकर, अपना घर फूँककर वे अलख जगाने निकले थे।"<sup>15</sup>

#### क्या आप जानते हैं?

भक्त-कवि के रूप में कबीर ने खुद को 'न हिन्दू न मुसलमान' कहा है। उनके लिए धर्म का अर्थ हिन्दू या मुसलमान न होकर ऐसी मानवीय व्यवस्था है जिसमें सभी मनुष्य का सम्मान हो, किसी प्रकार का भेदभाव न हो तथा धर्म के लिए स्वयं को साधने की जरूरत पड़े न कि साधनों की। इसलिए उन्होंने व्रत, पूजा-पाठ, मंदिर, मस्जिद एवं इससे जुड़े सभी कर्मकांडों को नकारा है। उनका मानना था कि मंदिर और मस्जिद धर्म नहीं मनुष्य के अहंकार का प्रतीक है और दोनों के बीच लड़ाई धर्म की श्रेष्ठता के लिए नहीं बल्कि स्वयं की श्रेष्ठता के प्रदर्शन के लिए है। इसलिए समाज में जब तक मंदिर, मस्जिद का अस्तित्व रहेगा तब तक न तो मनुष्य धार्मिक हो सकता है न समाज। इसलिए उन्होंने इस सब को एक सिरे से नकार दिया है।

कबीर की भक्ति-भावना पर सबसे अधिक और गहरा प्रभाव वैष्णव-साधना का दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मानना है कि उनकी भक्ति-चेतना का मुख्य स्रोत वैष्णव-भाव ही है और बाँकी चीजों को उन्होने प्रभाव के रूप में ग्रहण किया है। वैष्णव-भाव के आधार पर ही वे ज्ञान में भक्ति का समावेश करते हैं। दरअसल वैष्णवी-साधना में भक्ति जीवन की एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है और इसका लक्ष्य 'पराई पीर' को जानना रहा है। इसी कारण इसमें एक ओर जहाँ ईश्वर के वैराट्य के प्रति समर्पण का भाव ही सब कुछ है वहीं दूसरी ओर मनुष्य के सम्पूर्ण अहं का त्याग भी उतना ही महत्वपूर्ण है। कबीर ने वैष्णव-परंपरा के सगुण और अवतारवादी ईश्वर के बदले निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार जरूर किया है लेकिन गुरु-भक्ति, विनम्रता, शरणागति, प्रपत्ति, भजन एवं जीवन मात्र के प्रति करुणा के भाव को जो वाणी दी है उसका सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विस्तार वैष्णव परंपरा में ही मिलता है। गुरु-भक्ति एवं प्रपत्तिमूलक निवेदनों की दृष्टि से तो कबीर किसी भी वैष्णव भक्त से कमतर नहीं लगते हैं। कबीर पर वैष्णव भक्ति भावना का जो प्रभाव है उसे निम्नलिखित कुछ महत्वपूर्ण संदर्भों में देखा जा सकता है-

- 1- आमतौर पर किसी रचनाकार या उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त भक्ति-चेतना की पहचान इस बात से की जाती है कि उसका भगवान या आराध्य के साथ संबंध का स्तर कौन सा है तथा वह भक्ति के विभिन्न साधनों (इन साधनों को ही सम्मिलित रूप से नवधा भक्ति कहा जाता है) में से किसका प्रयोग करता है। कबीर के यहाँ तत्त्वतः नवधा एवं प्रेमा भक्ति की प्रमुखता है। उन्होने नवधा भक्ति के लगभग सभी स्तरों की अभिव्यक्ति की है परंतु उनकी सबसे अच्छी और मार्मिक कवितायें वे हैं जहाँ वे दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन की बात करते हैं। उदाहरण देखिये-

“मेरे संगी दोई जना, एक बैसो एक रामा

वो है दाता मुकुति का, वो सुमिरावे नामा।”---प्रेमाभक्ति

“मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोरा

तेरा तुझको सौंपता, क्या लागत है मोरा।”---प्रपत्ति भाव का प्रभाव

- 2- भक्ति के लिए भगवान की कृपा तो सर्वमहत्वपूर्ण है ही उसके विकसित होने के लिए उतना ही आवश्यक है सत्संगा। कबीर ने वैष्णव परंपरा के अनुसार ही सत्संग एवं संगति पर काफी बल दिया है। उनके लिए सत्संग मन को सत्य के साथ जोड़ने की एक विधि है। कबीर का मानना था कि सत्य से जुड़े बिना भक्ति मात्र दिखावा और प्रपंच बनकर रह जाती है। इसलिए उन्होने सत्संगति खास क साधु संगति के महत्त्व का बराबर बखाना किया है, सत्संग को कई स्थान पर साधु-सेवा भी कहा है तथा साधु संगति को स्वर्ग से भी अधिक महत्त्व दिया है। उदाहरण-

“राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोया

जो सुख साधु-संगमें, सो बैकुंठ न होया।”

#### क्या आप जानते हैं?

कृष्ण भक्ति काव्य के अमर गायक सूरदास ने भी सत्संग यानी साधु-संगति को मुक्ति का क्षेत्र मानकर कहा है कि साधुओं की संगति

<sup>15</sup> शिव कुमार मिश्र — भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य, पृ. 56-57

बड़े भाग्य से मिलती है –

“सूरदास साधुनि संगति, बड़े भाग्य को पाऊँ ।” सुरसागर सार, पृ. 340

3 - ईश्वर के बारे में निरंतर सोचना विचार करना भी नाम स्मरण के अंतर्गत आता है। मध्यकालीन लगभग सभी कवियों का मानना था कि ईश्वर के बारे में लगातार सोचने पर ही वह वातावरण तैयार हो सकता है जहां से ईश्वर को प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल और आसान है। इसलिए उन्होंने नाम स्मरण( कई कवियों ने इसे ब्रह्म भाजन भी कहा है) को बहुत महत्व दिया है। तुलसीदास ने तो यहाँ तक कहा है कि ‘नाम लेते भव सिंधु सुखाहीं।’ अर्थात् नाम स्मरण से जीवन रूपी समुद्र के कष्टों को सुखाया जा सकता है। भक्ति में नाम स्मरण की भूमिका को कबीर ने भी वैष्णव भक्तों के अनुसार ही स्वीकार किया है। वे नाम स्मरण को ‘तत्सार’ कहते हैं। यह तत्सार ईश्वरीय अस्तित्व को साधक की चेतना में प्रतिष्ठित करता है तथा चित एकाग्रिकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उदाहरण-

- “भगति भजन हरि नाम है, दूजा दुख अपारा।

मनसा वाचा कर्मणा, कबीर सुमिरन सारा।”

- “कबीर निरभै राम जपु, जब लागि दीवै बाति।

तेल घटै बाती बुझै, सोवेगा दिन राति।।”

**क्या आप जानते हैं?**

भक्ति में नाम स्मरण की भूमिका को कबीर ने तत्सार कहा है- ‘राम नाम तत्सार है।’ अर्थात् राम का नाम ही जीवन का सार या मूलतत्व है। दरअसल मनोविज्ञान में भी यह सिद्ध हो चुका है कि जिसे बार-बार याद किया जाता है उसका गुण और स्वभाव याद करने वाले के व्यक्तित्व में संक्रमित होने लगता है, या उसका व्यक्तित्व उसी के जैसा होने लगता है। फिर कबीर के यहाँ किसी भी प्रकार का भेद भाव तो है नहीं। इसलिए विषमतामूलक समाज से मुक्ति के लिए कबीर का ‘तत्सार’ एक मनोवैज्ञानिक धरातल प्रदान करता है। तभी तो वे बार-बार कहते हैं कि- “निर्गुण राम जपहुं रे भाई/ अविगत की गति लखि न जाई।”

4 – गुरु के प्रति कृतज्ञता का भाव कबीर की भक्ति-चेतना और पूरे मध्यकालीन रचनाशीलता का प्रवेश-द्वार है। कबीर की मान्यता है कि गुरु-भक्ति के बिना भक्तिभाव ही संभव नहीं है, भक्ति भाव का पथ-प्रदर्शक तो गुरु ही है। चूंकि कबीर ईश्वरीय अस्तित्व को अव्यक्त मानते थे। इसलिए भक्ति के उत्स को समझने के लिए गुरु के प्रति सच्ची निष्ठा एवं समर्पण को आवश्यक माना एवं गुरु को ‘सद्गुरु’ की महिमा से विभूषित कर उसे ईश्वर से भी श्रेष्ठ बताया है। इसके उदाहरण ‘कबीरग्रंथावली’ में भरे पड़े हैं। उदाहरणस्वरूप देखिये-

- “माया दीपक नर पतंग, भ्रमि-भ्रमि मांहि पड़न्ता।

कहै कबीर गुरु ज्ञान तै, एक आध उबरन्ता।।”

- “ गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काको लागू पाँवा।

बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताया।।”

भारतीय संत कवियों की भक्ति पद्धति पर सूफियों के प्रेमतत्व का भी व्यापक प्रभाव सिद्ध हो चुका है। प्रेम-भावना की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ न केवल संतकाव्य को काव्यात्मक उत्कर्ष प्रदान करती हैं अपितु वह साधना में साधक की अनुभूतिपरत्ता का भी संदर्भ उपस्थित करती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसी प्रकार की प्रणयपरक कविताओं को ‘भावनात्मक रहस्यवाद’ के अंतर्गत रखा है जहां साधक ईश्वर से मिलने के लिए व्याकुल रहता है और उसमे गहन विरहानुभूति पाई जाती है। कबीर की भक्ति में प्रेम का जो तत्व है उस पर सूफी प्रेम भावना का सीधा प्रभाव दिखाई पड़ता है। सूफियों का प्रेम संसार से शुरू होकर आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो जाता है। कबीर के कांता भाव की भक्ति पर इसका सीधा प्रभाव दिखाई देता है। एक बात और, सूफियों के यहाँ विरह को प्रेम की कसौटी के रूप में स्वीकार किया गया है, जहां मिलन हो जाता है कथा वहीं समाप्त हो जाती है। कबीर ने भी विरह को सुल्तान कहा है-“विरहा-विरहा मति कहो विरहा है सुल्तान/ जिहि घट विरह न संचरे, सो घट सदा मसाना।” स्पष्ट है विरह की केन्द्रीयता सीधे सूफियों से होती हुई कबीर में आई है। इसलिए ईश्वर के साथ प्रेम और मस्ती का जो भाव है उसे नवधा भक्ति के अंतर्गत सख्य भक्ति कहकर तर्कसंगत सिद्ध नहीं किया जा सकता है। कबीर के यहाँ जो विरह, तड़प और मिलन में मस्ती का चरम भाव है वह सूफियों से ही प्रेरित है। उदाहरण-

- “ तलफै बिनु बालम मोर जिया।

दिन नहीं चैन, रात नहीं नींदिया, तलफ-तलफ कै भोर किया।”

- “ नैनो की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाई।

पलकों का चिक डारिकै, पिया को लिया रिझाया।”

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना जरूरी है कि कबीर पर सूफियों का प्रभाव होने के कारण अनेक आलोचकों ने कबीर की भक्ति को विदेशी या आयातित सिद्ध करने की कोशिश की है। इन विद्वानों का चाहे अपना जो भी तर्क हो लेकिन हमें यह ध्यान देने की जरूरत है कि कबीर की भक्ति सूफी दर्शन से प्रभावित जरूर है परंतु वह विशुद्ध रूप से भारतीय है। भारतीय परंपरा में ब्रह्म को पुरुष और जीव को स्त्री माना गया है। सूफियों के यहाँ यह उल्टा है। कबीर ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है। अगर ऐसा नहीं होता तो वे ‘हरि मोरा पीव/ मैं हरि की बहुरिया’ कैसे बोलते?

संत कवियों की साधना पद्धति के महत्वपूर्ण आधारों में से योग पद्धति भी है जिस पर नाथ-पंथियों का गहरा प्रभाव है। योग अपने मूल रूप में अनुभूतिहीन साधनात्मक शारीरिक साधनाओं पर आधारित होता है। लेकिन मध्यकालीन संत रचनाकारों की योग-साधना में शारीरिक चेष्टाओं के साथ-साथ आस्था और भावनाओं का भी समावेश हो गया था। इसलिए इन की योग-साधना जैसा की हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी ‘कबीर’ नामक अपने ग्रंथ में स्वीकार किया है कि विशुद्ध रूप से शास्त्रीय न होकर अनुभावात्मक हो गई है। भक्ति के साथ योग की स्वीकृति कबीर की भक्तिभावना की भी बहुत बड़ी विशेषता है। उन्होंने योग-साधना को स्वीकार करते हुए उसमें अनुभूति को समाहित किया तथा चित्तशुद्धि को उसका अनिवार्य हिस्सा माना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी सही ही लिखते हैं—“कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में प्रेम का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी और स्वानुभूति का अवलंब पाकर उसका विकास हुआ।”<sup>16</sup>

कबीर के जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा योग परंपरा के माहौल में गुजरा था। इसलिए व्यावहारिक जीवन में भी योग के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। माना तो यह भी जाता है कि कबीर ने योग-परंपरा से ही प्रचंड आत्म-विश्वास और अक्खड़ता जैसे गुणों को प्राप्त किया था। लेकिन अंधानुकरण करना कबीर की प्रकृति नहीं थी। ‘सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने’ के कारण ही वे हिन्दी साहित्य के इतिहास में ‘अद्वितीय व्यक्तित्व’ बनते हैं। ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी हम जानते हैं कि कबीर का समय धर्म साधना के क्षेत्र में योग और भक्ति के चरम संघर्ष का समय था जहां एक ओर नाथ परंपरा के समर्थक योग-पद्धति का समर्थन कर रहे थे वहीं दूसरी ओर दक्षिण से आई भक्ति-परंपरा के समर्थक प्रेम और भक्ति को ही जीवन लक्ष्य घोषित कर रहे थे। दोनों मार्गों में बड़ा भारी अंतर था। भक्ति में जहां भावना पर बल, दैन्य एवं विनय की जरूरत, आवेग एवं सहृदयता का अतिरेक दिखता था वहीं योग साधना में साधना पर बल, प्रचंड आत्म-विश्वास की जरूरत एवं अक्खड़ता कूट कूट कर भरी हुई थी। भक्त योगमार्ग को कठोर और निरर्थक समझते थे तो योगी प्रेम या भक्ति को दुर्बलता का प्रतीक मानकर उसका उपहास उड़ाया करते थे। कबीर ने एक दूसरे के लगभग विपरीत नजर आती इन दोनों परंपरों का संश्लेषण कर उसे एकमेक करने की कोशिश की। उन्होंने एक ओर जहां योग से बहुत चीजों को ग्रहण करते हुए भी ‘गगना पवना दोनों बिनसै/ कहँ गया जोग तुम्हारा’ कहकर योगियों की साधना-प्रक्रिया पर सवाल खड़ा करके उसे अनुभूति से जोड़ने की बात कही है वहीं दूसरी ओर भक्ति को मंदिर मस्जिद के बजाय ‘मनसा, वाचा कर्मणा’ से स्वीकार कर जनमानस से जोड़ने का प्रयास भी किया। कबीर के यहाँ योग एवं भक्ति का संश्लेष कई स्तरों पर है जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

- 1 - योग-शास्त्र में यह माना गया है कि परम तत्व हमारे भीतर होता है उसे बाहर खोजना निरर्थक है। इससे अलग भक्त मानते थे कि ईश्वर मनुष्य से अलग सत्ता है। इसलिए ईश्वर और मनुष्य (भक्त) में द्वैत होना जरूरी है। कबीर ने दोनों को मिलाते हुए यह बताया कि परम-तत्त्व हमारे भीतर भी है और बाहर भी-

“भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लौं।

बाहर भीतर सकल निरंतर, गुरु परतापै दीठा लौं।”

2-योग जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि अपने मूल रूप में अनुभूतिहीन साधनात्मक शारीरिक क्रियाओं पर आधारित होता है, इसलिए यहाँ साधनात्मक एवं शारीरिक क्रियाकलापों के अलावा किसी दूसरे को महत्त्व नहीं दिया जाता है। कबीर ने योग के इस साधनात्मकता में प्रेम एवं अनुभूति को न केवल शामिल किया बल्कि योग से बड़ा प्रेम एवम बद्ध शारीरिक साधनाओं से अनुभूति को महत्तर घोषित किया। इसलिए उन्होंने ईश्वर को हर घट का बासी एवं इसे प्रेम से प्राप्त किया जाने वाला साध्य बताया है।

3- कबीर सहित अधिकांश मध्ययुगीन हिन्दी रचनाकारों के यहाँ योग का जो रूप दिखाई पड़ता है उस पर निःसंदेह नाथपंथी योगियों का सबसे अधिक प्रभाव था। संतकाव्य का भी बड़ा हिस्सा शून्य, सहस्रार, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुंडलिनी, ब्रह्म-रस जैसे योगपरक शब्दों से निर्मित है। योगसाधना पर विश्वास के कारण ही संत कवियों ने मानव शरीर की कल्पना घट के रूप में की है। इनका मानना है कि योग की विशेष साधना के द्वारा कुंडलिनी जागृत करके अनहद नाद की उपलब्धि की जा सकती है। कबीर के भी अनेक पदों में इस समाधि के प्राप्त होने के संकेत दिखाई देते हैं। एक उदाहरण देखिये-

<sup>16</sup> हजारी प्रसाद द्विवेदी — कबीर, पृ. 123

“कबीर कंवल प्रकासिया, उग्या निर्मल सुर / निसि अंधियारी मिट गयी, बाजै अनहद तूर  
आकासे मुंह औंधा कुआं, पाताले पनिहारि/ताका पानी को हंसा पीवै, चिरला आदि विचारि।।”

यहाँ पनिहारि, कुंडलिनी, औंधा-कुआं, ब्रह्म-रंघ्र, एवं हंस जीवात्मा का प्रतीक है।

- 4- कबीर के व्यक्तित्व की यह सर्वोपरि विशेषता रही है कि उन्हें जहां कहीं जो कुछ भी असंगत लगता था उसका निर्ममतापूर्वक, अपार साहस के साथ विरोध करते थे। तत्कालीन समाज में योगी लोग इस बात का दावा करते थे कि शून्य-चक्र में समाधि के बाद परम मुक्ति की प्राप्ति होती है। कबीर भी कुंडलिनी जागरण की पूरी जटिल प्रक्रिया को साधकर कुंडलिनी को सहस्र चक्र तक ले गए, परंतु उन्होंने पाया कि जैसे ही समाधि टूटती है चेतना पुनः व्यावहारिक धरातल पर लौट आती है। इसलिए उन्होंने न केवल योग क्रियाओं का जबरदस्त ढंग से खंडन किया अपितु योग से भक्ति को श्रेष्ठ भी कहा है।

कबीर के भक्ति दर्शन में किताबी ज्ञान का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वैसे भी ज्ञान अगर जीवन को परिवर्तित, समाजोपयोगी एवं समय-सापेक्ष नहीं बना पाता है तो वह बोझ के ही समान होता है। कबीर की मान्यता है कि ज्ञान मनुष्य को संसार कि गुत्थियों में उलझाकर रख देता है। इसलिए उन्होंने न केवल ढाई अक्षर वाले प्रेम तत्त्व को वेदादि के अध्ययन वाले ज्ञान तत्त्व से अधिक महत्त्व दिया है, अपितु मुक्ति के लिए ईश्वर में अटूट लय को ही पर्याप्त माना है—“जिन हरि जैसा जानिया, तिनको तैसा लाभा”

कबीर की भक्ति-भावना का अपना एक सामाजिक आधा र भी है। वे भक्ति के द्वारा ईश्वर की श्रेष्ठता (गलै नाम कि जेबरी, जित खिचै तित जाऊँ) तो सिद्ध करते ही हैं साथ ही वर्ण-व्यवस्था एवं सामाजिक बाह्याचार की निरर्थकता का पर्दाफाश कर राम रहीम के भेद को भी पाटना चाहते हैं। एक भक्त के रूप में वे खुद को ‘न हिन्दू न मुसलमान’ घोषित करते हैं। इस घोषणा के द्वारा मनुष्य को विभक्त करने वाले किसी भी संस्थाबद्ध धर्म को अस्वीकार करते हैं। इसलिए कबीर की भक्ति मनुष्य सापेक्ष है जिसमें मनुष्य और उसके समाज कि चिंताएँ शामिल हैं, लोकोन्मुखता, मानवीयता और सामाजिक एकीकरण जैसी चेतना विद्यमान है।

कर्मकांड और पाखंड धर्म के ये दो विकृत रूप हैं जिसने सदियों से पूरे समाज को बीमार कर रखा है और धीरे-धीरे उसे आत्मघाती बना दिया है। कबीर के मतानुसार ब्रह्म अनुभूति का विषय है और हमारी अनुभूति ही लोक सम्बन्धों से रहित होकर एकांगी, पूर्वाग्रह एवं पतनशील प्रवृत्तियों से ग्रस्त हो जाए तो ब्रह्म को पाना तो दूर मनुष्य मनुष्य कहलाने का भी अधिकारी नहीं रह जाता है। इसलिए कबीर ने बाह्याचार की निरर्थकता का तर्कपूर्ण ढंग से पर्दाफाश करते हुए मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, नमाज, माला-जाप जैसे अंधविश्वासों का जबरदस्त विरोध किया है। वे हिंदुओं में प्रचलित दिखावे के प्रति खंडनात्मक दृष्टि अपनाते हुए जहां ‘पत्थर के बजाय चक्की पीसने की प्रस्तावना’<sup>17</sup> करते हैं वहीं इस्लामी बाह्यदम्बरों का उपहास उड़ाते हुए ‘खुदा को ही बहरा’<sup>18</sup> सिद्ध कर डालते हैं। उन्हें न तो बाह्याचारों की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचार हीन गुलामी पसंद थी न वे जनता को ‘भय से प्रीति’ सिखाने के समर्थक थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—“मिथ्यादंबरों के प्रति प्रतिक्रिया कबीर का जन्मजात गुण था। वे वही करते थे जिसे उनकी आत्मा सत्यता की कसौटी पर परखकर युक्ति संगत स्वीकार करती थी। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वे हठवादी थे”<sup>19</sup> वे हठवादी थे या नहीं यह हमारा न तो यहाँ विषय है न हम इस विवाद में फिलहाल जाएंगे। परंतु उनकी उपलब्ध रचनाओं के अध्ययन-विश्लेषण से यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि कबीर ने ऐसे ईश्वर का अनुभव किया जो मंदिर और मस्जिद में न होकर मनुष्य के अंदर विराजमान है और जो बाह्याचारों से नहीं बल्कि सद आचरण और सदकर्मों से मनुष्य को प्राप्त होता है। बाह्यचारों को धर्म समझना और अकारण उंच-नीच का भाव अनुचित एवं अप्रासंगिक है। उन्होंने तो कहा ही है कि—

“न मैं देवल न मैं मस्जिद, न काबे कैलास में  
न तो कौनों क्रिया-कर्म में, न हीं जोग वैराग में।  
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भर की तलास में।”

कुल मिलाकर हम पाते हैं कि कबीर की भक्ति-भावना किसी संप्रदाय विशेष से संचालित न होकर तत्कालीन सभी साधना-पद्धतियों और दार्शनिक विचारों के समन्वय से निर्मित हुई है। उनकी भक्ति-पद्धति में न केवल तत्कालीन भक्ति परंपरा के विविध पक्ष बल्कि योग और ज्ञान जैसे विरोधी प्रतीत होने वाले मार्ग भी संश्लिष्ट हो गए हैं। इतना ही नहीं इतिहास के उस मोड़ पर जहां बाह्यचारों और अंधविश्वासों के असह्य कोलाहल में धर्म की मूल चेतना लुप्त हो रही थी कबीर ने धर्म को मानवता और इसी बहाने भारतीय संस्कृति से जोड़ने का भी साहसिक प्रयास किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं—“इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्ति-रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्म-गौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊंचे-से-ऊंचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।”<sup>20</sup> इसलिए हम कह सकते हैं कि कबीर की भक्ति वैयक्तिकता (विभिन्न साधना-पद्धतियों के संदर्भ में) और सामाजिकता (मानवता के संदर्भ में) के बीच तथा लौकिकता और अलौकिकता के बीच एक सेतु है। यहाँ भक्त और भगवान दोनों का महत्त्व है लेकिन बाह्याचार और कर्मकांड जैसे अमानवीय क्रिया-कलापों का पूर्णतः बहिष्कार। यह भक्ति सामाजिक संदर्भों से युक्त और दार्शनिक चेतना से सम्पन्न है।

17 “पाथर पूजे हरि मिले, तो मई पूजूं पहाड़/ ताते ये चक्की भली पीस खाए संसार”

18 “काकर पाथर जोरी कै, मस्जिद लई बनाय / ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहरो भयो खुदाय।”

19 हजारी प्रसाद द्विवेदी — कबीर

20 रामचंद्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 36

**कबीर की भक्ति-भावना के संदर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण विद्वानों का कथन :**

**इरफान हबीब-** “वास्तव में कबीर ऐसे एकेश्वरवाद की स्थापना करते हैं जिसमें ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तो है परंतु सारे धार्मिक अनुष्ठानों को नकारा गया है। कबीर के लिए ईश्वर से एकाकार होने का अर्थ मनुष्यों का एक होना है। इसलिए वहाँ छुआछूत जैसी प्रथा को स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है।”

**राम कुमार वर्मा-** “कबीर ने जीवन और धर्म में कोई भेद नहीं रहने दिया। जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है। जिस धर्म के लिए जीवन की स्वाभाविक और सात्विक गति एवं मति में परिवर्तन करना पड़े उसे हम धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते।”

“कबीर की भक्ति वह गुलाब है जिसे किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता, केवल उसकी सुगंध ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है जिसे किसी प्रशस्त वन में नहीं देख सकते वरन उसे कल-कल नाद करते ही सुन सकते हैं।”

**हजारी प्रसाद द्विवेदी-** “ वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबके न्यारे बनाकर भेजे गए थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानों प्रतिमूर्ति थे।”

**मुंशी राम शर्मा-** “जिन मधुर भावों की प्रेरणामयी पुष्पांजलि कबीर ने भक्ति के उन्माद शिखर पर पहुँचकर चढ़ाई है वह जनता की आँखों में कुतूहल बन गए हैं। उस शिखर पर रहस्य की यवनिका ने दृष्टि में जिज्ञासा भर दी है।”

**पारसनाथ तिवारी-** “ ...साधारण जनता में कबीर उसी भक्ति के प्रचारक माने जाते रहें हैं जिसका आंदोलन द्राविड़ देश ( दक्षिण भारत ) में उभार पर आया और जिसे दूसरे शब्दों में वैष्णव भक्ति कह सकते हैं। ‘गुरु ग्रंथ साहब’ आदि प्राचीन संत-वाणी संग्रहों में भी कबीर के साथ ‘भगत’ विशेषण जुड़ा हुआ मिलता है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि मध्यकाल से ही कबीर की ख्याति भक्त के रूप में अधिक थी, समाज सुधारक या योगी के रूप में नहीं।”

**पुरुषोत्तम अग्रवाल-** “कबीर की काव्य-संवेदना राम-भावना, काम-भावना और समाज-भावना को एक साथ धारण करती है। इन तीनों के सर्जनात्मक सह अस्तित्व को पढ़े बिना कबीर को पढ़ने के दावे व्यर्थ हैं।”